THE TIMES OF INDIA

Date:29-05-23

New House, New Ways

How to add meaning to the new addition to India's governance architecture.

TOI Editorials

A grand ceremony and sharp political rhetoric greeted the new Parliament. If the splendour and hi-tech amenities reflected new ambitions, the war of tweets and statements pointed to a bitter political divide that can act as a drag on that ambition. So, as our MPs get ready to work from a swanky new office, they and, even more, their party leaders must ask what use is India's new House for India if it can't house thoughtful, civil debates and pass well-scrutinised laws that make things better for citizens. Which is to say it would be tragic were the ways of the old Parliament carry over to the new one.

It isn't much of a Parliament when the din of hoots and heckles and raised fists, chairs and mikes are what make news. Debates that belong to Parliament play out on social media. Speeches suitable for election rallies are made in the House. The 15th Lok Sabha set a record as the least productive in terms of hours it met. BJP, then in opposition, believed obstruction of Parliament was a democratic form of protest. The 17th Lok Sabha is often criticised for hasty law-making without enough debate, due diligence or discussion.

If Lok Sabha and Rajya Sabha are Parliament's heart and mind, parliamentary committees are its nerve-centre, deliberating year-round, scrutinising bills. Yet too often, bills are not sent to committees. In this Lok Sabha, barely 13% of bills were sent to committees till monsoon session 2022. This number was 27% in the 16th Lok Sabha. The 15th Lok Sabha sent 71% of its bills to committees. A country as vast, stratified and complex as this, an economy that will be the third largest in the world within the lifetime of many MPs must be governed by laws that have had the benefit of many close and diverse looks. The new Parliament must resuscitate the tradition of parliamentary committees being prime players in law-making.

The onus lies on parties, those who attended the ceremony and those who didn't, to make the new Parliament new in a meaningful way. But, as per the well-understood precepts of parliamentary democracy, the biggest onus lies with the governing party. BJP and especially BJP's leadership must therefore make the first moves on reviving India's old parliamentary culture, in which debate and decorum coexisted happily. The party has accused the opposition of dishonouring the new Parliament. BJP must show it knows how to truly honour the splendid new addition to India's governance architecture.

Date:29-05-23

Save The Summit

It's 70 years since the ascent of Mt Everest. The climb is still a challenge. The bigger challenge is ecological.

TOI Editorials

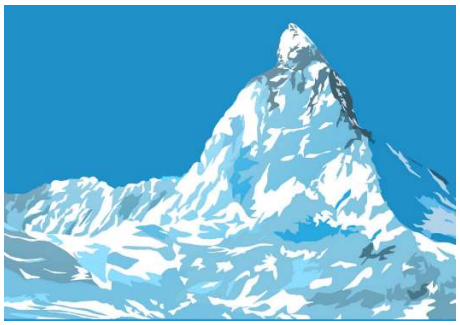

Seventy years ago when Tenzing Norgay and Edmund Hillary made the first official ascent of Mt Everest, it was understandably heralded as a great human achievement by the entire world. Reaching the 29,000 feet peak took extraordinary tenacity and teamwork. The following decades would see more men and women (like Japan's Junko Tabei in 1975 and India's Bachendri Pal in 1984) likewise overcome the inordinate altitude and physiological barriers and become heroes. But that collective sheen began to wear away in the nineties, as commercial expeditions took off.

Indeed, images of 'traffic jams' and 'garbage mountains' that have gone viral in recent years worry the larger public that where mountaineering was once an ode to the glory of the Everest region, it is now an ecological threat. The Hillary sentiment that "it's not the mountain we conquer but ourselves," is of course as valid today as in 1953. Why should humans feel the pull of one of the planet's greatest physical and mental challenges, any less today? The more profound challenge though is to preserve this imposing landscape for future generations. Climate change is the unpredictable X factor but being kinder to the Himalayas is a choice humans can make.

For Nepal, which is celebrating the Hillary-Norgay achievement on scale, where people's lives and opportunities have been dramatically transformed as a result of that ascent, the recalibration will not be easy, but it is necessary. Just as it is necessary in the Indian Himalayas, which too are reeling under over-commercialisation and overcrowding, with Joshimath being just one of the worrying flashpoints. If the romance of the great mountains is to endure for tourists, they have to do their part too. As the axiom goes, take nothing but pictures, leave nothing but footprints.

दैनिक जागरण

Date:29-05-23

दूरगामी नुकसान करते लुभावने वादे

विवेक देवराय आदित्य सिन्हा, (प्रधानमंत्री की आर्थिक सलाहकार परिषद के प्रमुख और सिन्हा परिषद में अपर निजी सचिव-अनुसंधान हैं)

समकालीन राजनीतिक परिदृश्य में लोकलुभावनवाद का ही बोलबाला दिख रहा है। कई देशों के अलावा भारतीय राजनीति को भी यह पहलू प्रभावित कर रहा है। सत्ता की चाह में मतदाताओं को लुभाने के लिए राजनीतिक दल बड़े-बड़े सब्जबाग दिखाते हैं। हालांकि, सत्ता में आते ही वित्तीय बाधाओं के चलते ये वादे खोखले साबित होते हैं। ऐसे में कोई संदेह नहीं कि तात्कालिक लाभ के लिए दूरगामी नुकसान वाले ये वादे वित्तीय अनुशासन की धज्जियां उड़ाते हैं। शनिवार को नीति आयोग की बैठक में भी प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने इसे लेकर चिंता प्रकट करते हुए राज्य सरकारों से यही कहा कि वे वित्तीय अनुशासन के दायरे में ही जनकल्याण करें। प्रधानमंत्री मोदी या अन्य लोगों की ऐसी चिंता अकारण भी नहीं। राजनीति में मुफ्त उपहारों की यह रेवड़ी संस्कृति धीरे-धीरे अपनी पैठ गहरी करती जा रहा है। इसका सबसे ताजा उदाहरण कर्नाटक विधानसभा चुनाव में देखने को मिला। वहां कांग्रेस द्वारा चुनाव के दौरान किए गए वादों ने अप्रत्याशित स्थिति उत्पन्न कर दी है। मुफ्त बिजली और बस यात्रा जैसे वादे कांग्रेस के लिए कारगर साबित हुए। यही कारण है कि तमाम लोगों ने अब बिजली के बिल भरना बंद कर दिए हैं, क्योंकि उन्हें उम्मीद है कि सरकार जल्द ही इस वादे को पूरा करेगी और उन्हें मुफ्त बस यात्रा की सौगात भी मिलेगी।

वास्तविकता यही है कि इस लोकलुभावनवाद ने चुनावी वादों और आर्थिक व्यावहार्यता के बीच तनाव की स्थिति बना दी है, जिसके सामाजिक कल्याण एवं स्थायित्व पर दूरगामी प्रभाव दिख सकते हैं। लोकलुभावनवाद के मुद्दे पर मंथन के लिए हमें दो बुनियादी पहलुओं की पड़ताल करनी होगी। पहला यही कि आखिर लोकलुभावनवाद क्या है? राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह ऐसी रणनीति प्रतीत होती है, जिसमें तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति वाले वादों को जनता के बीच व्यापक समर्थन मिलता है। हालांकि, आरंभिक स्तर पर लोकप्रियता के बावजूद दीर्घकालिक स्तर पर इनके व्यापक दुष्प्रभाव होते हैं। इनसे न केवल अन्य आवश्यक खर्चों के लिए संसाधनों की कमी पड़ती है, बल्कि वित्तीय स्थिति भी बिगड़ती है। दूसरा पहलू यही कि यदि लोकतंत्र में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि है तो फिर लोकलुभावनवाद में क्या समस्या है? नि:संदेह, लोकलुभावनवाद में जनता की इच्छा प्रतिनिध्वनित होती है और यही लोकतंत्र का मूल अधिकार भी है, लेकिन सवाल यही है कि इनके समीकरणों में मूलभूत समस्याएं हैं। लोकलुभावन प्रवृत्तियों के चलते पार्टियां बड़े-बड़े वादे करती हैं और उस हिसाब से उनकी पूर्ति नहीं कर पातीं तो जनता का भरोसा घटता है। इन सबसे बढ़कर लोकलुभावन नीतियों से सरकारी खर्च में भारी बढ़ोतरी होती है। इनसे कुछ तात्कालिक लाभ भले ही मिल जाएं, लेकिन बजटीय घाटे, वित्तीय अस्थिरता और अंतत: किसी आर्थिक संकट की आशंका बढ़ जाती है। इससे जुड़ा विमर्श अक्सर सामाजिक विभाजन और ध्रुवीकरण को भी बढ़ावा देता है तो सामाजिक सद्भाव और एकता की भावना पर आघात करता है। इससे सतत विकास और नियोजन की प्रक्रिया प्रभावित होती है। इस कारण कई लचर नीतियां अस्तित्व में आ जाती हैं। भले ही लोकलुभावनवाद को आम आदमी के हितों की पैरवी करने वाला बताया जाता हो, लेकिन यह सामाजिक समावेशन की प्रक्रिया को उलटकर असमानता एवं अन्याय को बढ़ावा दे सकता है।

ऐसे में यह युवा मतदाताओं का दायित्व है कि वे लोकलुभावनवाद के संभावित दुष्प्रभावों को समझते हुए इस पर विराम लगाने के लिए आगे आएं, क्योंकि यह उनके भविष्य का प्रश्न है, जिसमें आर्थिक संतुलन को असंतुलित करने का जोखिम है। पंजाब का उदाहरण लें तो उसके बजट की पड़ताल कई चिंतित करने वाले रुझान दर्शाती है। राज्य की जीडीपी के अनुपात में कर संग्रह खतरे की घंटी बजाने वाला है। इससे केंद्रीय वित्तीय सहायता पर राज्य की निर्भरता बढ़ती जा रही है। वित्त वर्ष 2022-23 के संशोधित अनुमान में पंजाब पर 3,12,758 करोड़ रुपये का कर्ज दिखाया गया, जिसके अगले वित्त वर्ष में बढ़कर 3,27,050 करोड़ रुपये के स्तर को पार कर जाने के आसार हैं। ये महज कुछ आंकड़े नहीं, बल्कि आर्थिक आपदा के संकेतक हैं। ऐसे में लोकलुभावन योजनाओं के नकारात्मक दूरगामी पहलुओं को देखते हुए उन्हें लेकर सतर्कतापूर्ण रवैया अपनाना ही उचित है।

लोकलुभावनवाद के साथ एक बड़ी चिंता यही है कि इससे प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दलों के बीच बड़ी-बड़ी घोषणाएं करने की अंतहीन होड़ शुरू होगी। यह प्रतिस्पर्धी लोकलुभावनवाद समय के साथ चिंता बढ़ाता जाएगा। पेंशन योजना से लेकर मुफ्त बिजली तक इस सिलसिले पर कोई विराम नहीं लगेगा। हमारे जैसे विकासशील देश में जहां संसाधन सीमित हैं, वहां सामाजिक कल्याणकारी योजनाएं बेतरतीब होने के बजाय रणनीतिक स्वरूप वाली एवं लक्षित वर्ग को ध्यान में रखते हुए बनाना ही उचित है। अन्यथा संसाधनों के दुरुपयोग की चुनौती उत्पन्न होती है। दिल्ली का ही उदाहरण लें, जहां 200 यूनिट बिजली मुफ्त है। चार मंजिला बंगले की स्थिति में देखें तो वहां बिजली के चार अलग-अलग कनेक्शन संभव हैं। इससे वहां 1,600 यूनिट मुफ्त बिजली की संभावना बनी रहेगी। लोगों को इसकी इतनी आदत लग चुकी है कि जब दिल्ली सरकार ने इसे वैकल्पिक बनाया तो 58 लाख उपभोक्ताओं में से 48 लाख ने सब्सिडी के विकल्प को वरीयता दी। ये उदाहरण हमें हमारी दीर्घकालिक प्राथमिकताओं को समझने की तत्काल आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। इस दिशा में यह आवश्यक होगा कि सरकारी खर्च संसाधन संपन्न लोगों पर न होकर वास्तविक जरूरतमंदों पर होना चाहिए। यह मुद्दा संसाधनों के न्यायसंगत वितरण को सुनिश्चित करने और असमानता को बढ़ने से रोकने से भी जुड़ा है। इन महत्वपूर्ण अंतरों को समझने पर ही हमारे राष्ट्र का भविष्य टिका हुआ है।

जनसत्ता

Date:29-05-23

गरीब बनाता महंगा इलाज

जयप्रकाश त्रिपाठी

देश में स्वास्थ्य सेवाएं महंगी ही नहीं होती जा रहीं, मरीजों को गरीब भी बना रही हैं। लगातार बढ़ता चिकित्सा खर्च हर साल सात प्रतिशत आबादी को गरीबी रेखा के नीचे धकेल रहा है। आक्सफैम इंटरनेशनल की एक ताजा रिपोर्ट बताती है कि अगर भारत के अरबपतियों की पूरी संपत्ति पर दो फीसद की दर से एकमुश्त कर लगा दिया जाए, तो उसी राशि से देश में तीन साल तक कुपोषितों के पोषण के लिए 40,423 करोड़ रुपए की जरूरत पूरी की जा सकती है। इसी तरह देश के दस सबसे अमीर अरबपतियों पर पांच प्रतिशत का एकमुश्त कर लगा कर साल भर के लिए स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय और आयुष मंत्रालय के बजट की अच्छी-खासी भरपाई हो सकती है।

हमारे देश में आयुष्मान भारत प्रधानमंत्री जन आरोग्य योजना, स्वास्थ्य बीमा योजना, प्रधानमंत्री स्वास्थ्य सुरक्षा योजना, राज्य स्वास्थ्य प्रणाली संसाधन केंद्र योजना, जननी सुरक्षा योजना, सामाजिक स्वास्थ्य कार्यकर्ता (आशा) योजना, एनआरएचएम फ्लेक्सी पूल, राज्यों में 108 एंबुलेंस सेवा, इंद्रधनुष टीकाकरण, ग्रामीण स्वास्थ्य स्वच्छता जैसी अनेक आधारभूत व्यवस्थाओं, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के अंतर्गत राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन, राष्ट्रीय शहरी स्वास्थ्य

मिशन, तृतीयक देखभाल कार्यक्रम, स्वास्थ्य चिकित्सा शिक्षा, राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (प्रजनन) आदि सरकारी इंतजामात के बावजूद दुनिया में सबसे ज्यादा (सालाना औसतन 11 लाख) नवजात बच्चों की मौतें भारत में हो रही हैं। हर साल दस लाख नवजात शिशुओं को गंभीर एचबीवी संक्रमण का खतरा रहता है। पैदा होने वाले प्रति एक हजार में से औसतन उनतीस नवजात की मौत हो जाती है। 'सेव द चिल्ड्रेन' संस्था के मुताबिक, विश्व में नवजात शिशुओं की कुल मौतों में से उनतीस फीसद अकेले भारत में होती हैं।

गरीब परिवारों के लिए यह सच कितना दुर्भाग्यपूर्ण है कि वे अपने बच्चों के इलाज का खर्च उठाने लायक नहीं रह गए हैं। अस्पतालों में भर्ती बच्चों पर केंद्रित एक अध्ययन से पता चलता है कि प्रति सौ परिवारों में से तेरह को इलाज में आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। ऐसे ज्यादातर परिवार अगली धार के कार्यकर्ताओं, जैसे आशा, आंगनबाड़ी, सहायक नर्स मिडवाइव्स की पहुंच से भी वंचित हैं। आयुष्मान भारत योजना के साथ भी पहुंच का सवाल जुड़ा है। बेतहाशा महंगे दवा-इलाज ने तेईस फीसद मरीजों को चिकित्सा से वंचित कर दिया है। सत्तर फीसद लोग अपनी जेब से इलाज करा रहे हैं। मेडिकल कालेजों, अस्पतालों, प्रशिक्षित डाक्टरों और नर्सों की कमी के चलते स्वास्थ्य सेवाएं तो पहले से ही चरमराई हुई हैं। स्वास्थ्य के क्षेत्र में सरकारी खर्च एक दशक से ऊंट के मुंह में जीरा की तरह सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 1.3 प्रतिशत पर ही टिका हुआ है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का हाल यह है कि सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में भूटान, श्रीलंका और नेपाल जैसे गरीब देशों का भी सालाना खर्च भारत से ज्यादा है। देश में आबादी सात गुना बढ़ गई, पर स्वास्थ्य सुविधाएं दोगुनी भी नहीं हो सकी हैं।

देश के कुल लगभग सत्तर हजार अस्पतालों में से साठ फीसद में तो पर्याप्त बिस्तर तक नहीं हैं। आनुपातिक तौर पर प्रति पैंसठ मरीज पर मात्र एक बिस्तर की उपलब्धता है। चिकित्सा खर्च इस कदर जेब पर भारी पड़ रहा है कि हर साल कर्ज लेकर, संपत्तियां बेचकर इलाज कराने वाली सात-आठ प्रतिशत आबादी गरीबी रेखा से नीचे पहुंच जाती है। तेंतालीस फीसद कमाई इलाज पर खर्च हो जा रही है। ऐसे ज्यादातर मरीज कैंसर, हृदय और मानसिक रोगों से पीड़ित होते हैं। आयुष्मान भारत स्वास्थ्य योजना की न तो फिलहाल दस करोड़ परिवारों तक पहुंच बन पाई है, न प्राथमिक उपचार के लिए पूर्व घोषित डेढ़ लाख 'हेल्थ ऐंड वेलनेस' केंद्र बन सके हैं।

एक तो निजी अस्पताल आयुष्मान योजना की तय सरकारी दरों पर इलाज के लिए सहमत नहीं हैं। दूसरे, पर्वतीय प्रदेशों को छोड़ कर अन्य राज्य इस योजना के तहत चालीस प्रतिशत इलाज का खर्च उठाने से कतराते हैं। बंगाल सरकार ने तो आयुष्मान भारत योजना को राज्य की स्वास्थ्य योजना में मिश्रित कर दिया है। नतीजे स्पष्ट हैं कि योजनाएं कागजी होकर रह गई हैं। देश की सवा अरब से अधिक आबादी के लिए स्वास्थ्य का मौजूदा ढांचा नितांत अपर्याप्त हो चला है। शिक्षा और स्वास्थ्य के नाम पर 1990 के बाद से, देश में पता नहीं कितने अभियान, कार्यक्रम, नीतियां और निवेश सामने आ चुके हैं, तब भी स्वास्थ्य क्षेत्र में हालात जस के तस बने हुए हैं। देश में मानव संसाधनों का पारदर्शी इस्तेमाल न हो पाना भी इस विफलता की एक खास वजह है। अन्य क्षेत्रों की तरह स्वास्थ्य क्षेत्र के संसाधन भी मुट्ठी भर शक्तियों के हाथों में सिमट कर रह गए हैं। किसी जमाने में चिकित्सक को धरती का भगवान कहा जाता था, पर अब इस पेशे ने नई तकनीकों से लैस होकर बाजार का बाना ओढ़ लिया है।

सरकारें और स्थानीय प्रशासनिक अधिकारी ध्यान दें तो गरीबों का निजी अस्पतालों में मुफ्त इलाज हो सकता है। ऐसे मरीजों के लिए निजी अस्पतालों में दस फीसद आरक्षित बिस्तर मुहैया कराने का स्पष्ट प्रावधान है। 2007 में दिल्ली

उच्च न्यायालय ने गरीब मरीजों को आरक्षित बिस्तर उपलब्ध न कराने पर अस्पतालों पर भारी जुर्माने का निर्णय दिया था। लगभग एक दशक पहले दिल्ली सरकार भी इस दिशा में पहल कर चुकी है।

स्वास्थ्य सेवाओं की स्थितियों के आकलन और उसके आधार पर भारत में चिकित्सा व्यवस्थाएं बनाने के लिए सन 1946 में जोसेफ विलियम भोरे के नेतृत्व में बनाई गई समिति ने प्रति चालीस हजार की आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र बनाने का सुझाव दिया था। प्रत्येक पीएचसी में दो डाक्टर, एक नर्स, चार सार्वजनिक स्वास्थ्य नर्स, चार दाइयां, दो स्वच्छता निरीक्षक, दो स्वास्थ्य सहायक, एक फार्मासिस्ट और पंद्रह अन्य चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों को शामिल करने का सुझाव था। इस प्रस्ताव को 1952 में भारत सरकार ने स्वीकार भी कर लिया, लेकिन सभी सिफारिशें लागू नहीं हो सकीं। 1970 के दशक में डब्लूएचओ ने 'सभी के लिए सेहत' लक्ष्य निर्धारित किया। देश में प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र, जिला अस्पताल, मेडिकल कालेज विकसित हुए, बड़े-बड़े स्वास्थ्य संस्थान बने, लेकिन दुर्भाग्य है कि प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को जरूरतों के अनुकूल विकसित नहीं किया जा सका है। आज एम्स, पीजीआई जैसे बड़े संस्थान उसी का खमियाजा भुगत रहे हैं।

भारतीय चिकित्सा परिषद के अनुसार, नौ वर्ष पहले देश भर में करीब 9.40 लाख डाक्टर थे, जबकि प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों को 1.5 लाख, उप-संभागीय अस्पतालों को 1.1 लाख, सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्रों को अस्सी हजार डाक्टरों की आवश्यकता थी। उसके बाद के पांच वर्षों में चार लाख और डाक्टर चाहिए थे। फिर इस दिशा में आगे हुआ क्या? प्रति सत्रह सौ मरीजों पर एक डाक्टर उपलब्ध है। सार्वजनिक स्वास्थ्य क्षेत्र में डाक्टरों और नर्सों के बहुत सारे पद रिक्त पड़े हैं। देश में स्वास्थ्य कर्मियों की संख्या में हो रही वृद्धि की गति बहुत ही धीमी है। भर्ती प्रक्रियाएं बुरी तरह अवरुद्ध हैं।

अन्य देशों की तरह हमारे यहां आज भी सभी नागरिकों के लिए कोई राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा प्रणाली नहीं है, जिसका लाभ निजी कंपनियां उठा रही हैं। सार्वजनिक और निजी स्वास्थ्य देखभाल में भारी अंतर है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य गारंटी मिशन का मुख्य लक्ष्य तो प्रत्येक नागरिक को मुफ्त दवाएं, नैदानिक उपचार और गंभीर बीमारियों के लिए बीमा उपलब्ध कराना है, लेकिन इसकी भी अंतर्गत कथा हाथी के दांत जैसी है। शहरी और ग्रामीण भारत के बीच स्वास्थ्य सेवाओं के बुनियादी ढांचे में ही भारी अंतर है।

राष्ट्रीय सहारा

Date:29-05-23

बहिष्कार की राजनीति

संपादकीय

नीति, आयोग की संचालन परिषद की शनिवार को संपन्न आठवीं बैठक का ग्यारह मुख्यमंत्रियों ने बहिष्कार किया। ये मुख्यमंत्री गैर-भाजपा शासित राज्यों के मुख्यमंत्री हैं। बैठक में मुख्य रूप से 2047 तक भारत को विकसित राष्ट्र बनाने

के एजेंडे पर विमर्श किया गया और स्वास्थ्य, कौशल विकास, महिला सशक्तीकरण और बुनियादी ढांचे के विकास समेत कई मुद्दों पर मंथन हुआ। बैठक को संबोधित करते हुए प्रधानमंत्री मोदी ने कहा कि भारत को 2047 तक विकसित देश बनाने के लिए राज्यों और जिलों को दीर्घकालीन दृष्टिकोण पत्र तैयार करना चाहिए। गौरतलब है कि 2047 में भारत अपनी आजादी के सौ साल पूरे करेगा। भाजपा ने नीति आयोग की बैठक का पार्टियां नये संसद भवन के बहिष्कार किए जाने को दुर्भाग्यपूर्ण और गैर-जिम्मेदाराना करार दिया है। पार्टी के वरिष्ठ नेता रविशंकर प्रसाद ने मोदी विरोध के नाम पर अपने ही राज्य के नुकसान पर कटाक्ष करते हुए बहिष्कार करने वाले मुख्यमंत्रियों से कहा कि आखिर, आप कहां तक जाओगे। उन्होंने दुख जताया कि सीएजी, सीईसी, चुनाव आयोग का पहले ही विरोध कर चुकीं इन मुख्यमंत्रियों की उद्घाटन के भी विरोध में हैं। विपक्ष की पार्टियों के इस प्रकार लगातार विरोध में रहने से धारणा बन गई है कि विपक्ष विरोध के लिए ही विरोध की राजनीति कर रहा है। यह धारणा विपक्ष के लिए अच्छी नहीं कही जा सकती क्योंकि मुद्दा ठोस भी हो तो संदेश यही जाता है कि विरोध के लिए विरोध किया जा रहा है। यही कारण है कि नीति आयोग की बैठक का बहिष्कार करने वाले मुख्यमंत्रियों के इस तर्क में भी आमजन का यकीन नहीं जमेगा कि सत्तारूढ़ भाजपा सरकार संघीय ढांचे का सम्मान नहीं कर रही है। बल्कि संदेश यही जा रहा है कि विपक्ष की आर्थिक महत्त्व के मुद्दों से ज्यादा राजनीति करने में रुचि है। दरअसल, नीति आयोग का विरोध बेतुका इसलिए लगने लगा है कि नीति आयोग का काम देश को दरपेश आर्थिक मुद्दों पर विमर्श करना है। क्या आर्थिक बेहतरी से जुड़े मुद्दों पर विमर्श के स्थान पर राजनीति करना उचित है। भले ही पक्ष और विपक्ष विकास की राजनीति करने का दम भरते हों लेकिन विपक्ष का रवैया वाकई खलने वाला ही है। क्योंकि नीति आयोग के सामने ही राज्यों के मुख्यमंत्री या वित्त मंत्री अपने-अपने राज्य का आर्थिक एजेंडा या दृष्टिकोण प्रस्तुत करके धन आवंटन की मांग करते हैं। उसी संस्था के प्रति बेरुखी समझ में आने वाला फैसला नहीं कहा जा सकता।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:29-05-23

सूखती अमेरिकी नदी

संपादकीय

दुनिया के लगभग सभी देशों में नदियां संकट में हैं। आज यह बड़ा सवाल है कि उन्हें कैसे बचाया जाएगा? अमेरिका में एक नदी कोलोराडो को बचाने के लिए जो कदम उठाए गए हैं, उन पर पूरी दुनिया की नजर है। गत सप्ताह सात अमेरिकी राज्यों ने आखिरकार फैसला कर लिया कि वे कोलोराडो नदी के पानी का कम से कम प्रयोग करेंगे। इस नदी के पानी का उपयोग अमेरिका और मैक्सिको के लोग करते हैं। कम से कम चार करोड़ लोगों को यह नदी पानी देती है। जल के अत्यधिक उपयोग, सूखे और जलवायु परिवर्तन के चलते अब यह नदी तेजी से सूख रही है। वैज्ञानिकों ने इस योजना का स्वागत किया है, लेकिन उनका मानना है कि नदी को बचाने के लिए इतना करना ही पर्याप्त नहीं है। नदी को बचाने के लिए स्थायी रूप से समाधान करने की जरूरत है। वाकई नदियां इस तरह से मुसीबत में हैं कि उनके लिए जो भी

फौरी उपाय किए जाएं, वैज्ञानिकों को कम ही लगेंगे। जिन सात राज्यों ने नदी जल के प्रयोग को कम करने का फैसला किया है, क्या वे संयम बनाए रख सकेंगे? क्या नदी से जल का प्रयोग कम करने से नदी की स्थिति सुधरेगी?

फीनिक्स में एरिजोना स्टेट यूनिवर्सिटी की एक अर्थशास्त्री कैथरीन सोरेनसेन का कहना है कि ताजा कदम से मूलभूत समस्या नहीं बदलेगी, लेकिन उससे संकट को कम करने में मदद मिल सकती है। 2,300 किलोमीटर लंबी यह नदी रॉकी पर्वत से निकलकर कैलिफोर्निया की खाड़ी में गिरती है। पहले इस नदी के किनारे यहां के आदिवासियों की बसावट थी, नदी के सूखने से यह आबादी सबसे ज्यादा प्रभावित होगी। नदी पर जो खतरा मंडरा रहा है, उसकी चिंता काफी पहले से चली आ रही है, लेकिन अभी तक ठोस कदम नहीं उठाए गए थे। विवाद चल रहा था कि इसे संरक्षित करने के लिए अपने पानी के उपयोग में किसे कटौती करनी चाहिए। कैलिफोर्निया, एरिजोना और नेवादा जैसे राज्य इसके पानी का सर्वाधिक उपयोग करते हैं और तीनों ही राज्य नदी जल का प्रयोग कम करने पर सहमत हो गए हैं। बड़ा असर खेती पर भी पड़ने वाला है, क्योंकि एक बड़े क्षेत्र में किसानों को खेती के लिए पानी नहीं मिलेगा, लेकिन सरकारें उन्हें मुआवजा देंगी। किसानों को अपनी जमीन परती रखने के लिए 1.2 अरब डॉलर रखे गए हैं।

यह बात गौर करने की है कि विगत दो दशक से इस नदी क्षेत्र में सूखे की स्थिति बढ़ रही है। कम से कम सात सहायक नदियों का पानी कोलोराडो में गिरता है और इन सबकी स्थिति भी अच्छी नहीं है। साल 2000 से ही सूखे की स्थिति बनती रही है। उसी साल से जल स्तर में लगातार गिरावट आई है। इस नदी पर बने बांधों में भी पानी सूख रहा है और इससे जल विद्युत परियोजनाओं पर भी संकट मंडरा रहा है। लेक मीड और लेक पावेल, दोनों अभी लगभग 30 प्रतिशत भरे हुए हैं, जबकि 2000 में 95 प्रतिशत भरे हुए थे। अनुमान लगाया गया है कि नदी के बेसिन के ऊपरी हिस्से में एक डिग्री सेल्सियस तापमान की भी वृद्धि होती है, तो इसके प्रवाह में 9.3 प्रतिशत की गिरावट आती है। लगभग हर नदी में प्रवाह घट रहा है। दुनिया के पास अपनी नदियों को बचाने की क्या योजना है? आज गंगा नदी खतरे में है, कावेरी में बहाव 40 प्रतिशत से भी ज्यादा कम हो गया है। दुनिया की दस बड़ी नदियों पर खतरा मंडरा रहा है। अब समय आ गया है कि नदियों को बचाने के लिए दुनिया भर में ठोस और स्थायी उपाय किए जाएं।